१९. भोजनशयनाऽच्छादन प्रदानाऽदिलक्षण: । सचाल्पतया नात्यन्तिकश्चैहिकार्य स्याऽपि साधनेनैकान्तेन साधीयानिति ।
- अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पु० ६९७

२०. भावोपकारस्त्वध्यापनश्रावणादिस्वरूपों गरीय नित्यात्यन्तिक उभयलोक सुखावहश्चेत्यतो भावोपकार एव यतितव्यम् ।
- अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६९७

२१. परमार्थत: पारमेश्वर प्रवचनोपदेश एव तस्येव भवशतोपचित दु:खक्षयक्षमत्वात् - आह च नोपकारो जगत्यस्मिस्ताद्दशो विद्यते क्वचित् । याद्दशी दु:खविच्छेदाद् देहिनां धर्मदेशना ।
-अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६९७ ।

●

पर्यावरण के प्रदूषण की समस्या और जैनधर्म

तीव्रता से बढ़ती हुई जनसंख्या और उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण प्रदूषित होते पर्यावरण की रक्षा का प्रश्न आज मानव समाज की एक ज्वलन्त समस्या है क्योंकि प्रदूषित होते हुए पर्यावरण के कारण न केवल मानवजाति अपितु पृथ्वी पर स्वयं जीवन के अस्तित्व को भी खतरा उत्पन्न हो गया है । उपभोक्तावादी संस्कृति के कारण जीवन के लिये आवश्यक स्रोतों का इतनी तीव्रता से और इतनी अधिक मात्रा में दोहन हो रहा है कि प्राकृतिक तेल एवं गैस की बात तो दूर रही, अगली शताब्दी में पेयजल और सिंचाई हेतु पानी मिलना भी दुष्कर होगा । यही नहीं, शहरों में शुद्ध प्राणवायु के थैले लगाकर चलना होगा । अत: मानवजाति के भावी अस्तित्व के लिये यह आवश्यक हो गया है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने के प्रयत्न अविलम्ब प्रारम्भ हो । यह शुभ-लक्षण है कि पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने की चेतना आज समाज के सभी वर्गों में जागी है और इसी क्रम में यह विचार भी उभर कर सामने आया है कि विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के ऐसे कौन से निर्देश हैं जिनको उजागर करके पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के सन्दर्भ में मानव समाज के विभिन्न वर्गों की चेतना को जागृत किया जा सके । इस सन्दर्भ में यहाँ मैं जैनधर्म की दृष्टि से ही आप लोगों के समक्ष अपने विचार रखूँगा ।

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जैनधर्म में भोगवृत्ति के प्रति संयम, अहिंसा और असंग्रह (अपरिग्रह) पर सर्वाधिक बल दिया गया है । उसके इन्ही मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर जैनधर्म में ऐसे अनेक आचार नियमों का निर्देश हुआ है जिनका परिपालन आज पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये आवश्यक है । जैनधर्म के प्रवर्त्तक आचार्यों ने आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व यह उद्घोषणा की थी कि न केवल प्राणीय जगत् एवं वनस्पति जगत् में जीवन की उपस्थिति है, अपितु उन्होंने यह भी कहा था कि पृथ्वी, पानी, वायु और अग्नि में भी जीवन हैं[१] । एक ओर तो वे यह मानते थे कि पृथ्वी, पानी एवं वनस्पति के आश्रित होकर अनेकानेक प्राणी अपना जीवन जीते हैं, अत: इनके दुरूपयोग, विनाश या हिंसा से उनका भी विनाश होता है[२] । दूसरे ये स्वयं भी जीवन हैं क्योंकि इनके अभाव में जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है । क्या हम जल, वायु, पृथ्वीतत्त्व एवं ऊर्जा (अग्नितत्त्व) के अभाव में जीवन की कोई कल्पना भी कर सकते हैं ? ये तो स्वयं जीवन के अधिष्ठान हैं । अत: इनका दुरूपयोग या विनाश स्वयं जीवन का ही विनाश है । इसीलिये जैनधर्म में उसे हिंसा या पाप कहा गया है । हिन्दू धर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को जो देव रूप माना गया है, उसका आधार भी इनका जीवन के अधिष्ठान रूप होना ही है । जैन परम्परा में भगवान महावीर से पूर्व भगवान पार्श्व के काल में भी पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीवन होने की यह अवधारणा उपस्थित थी । पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक -- ऐसे षट्जीवनिकायों की चर्चा प्राचीन जैन आगमों का प्रमुख विषय रहा है । आचारांगसूत्र (ई०पू० पाँचवी शती) का तो प्रारम्भ ही इन षट्जीवनिकायों के निरूपण से तथा उनकी हिंसा के कारणों एवं उनकी हिंसा से बचने के निर्देशों की चर्चा से ही होता है । इन षट्जीवनिकायों की हिंसा नहीं करने के सन्दर्भ में जैन आचार्यों के जो निर्देश हैं, वे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने की दृष्टि से आज सर्वाधिक मूल्यवान बन गये हैं । आगे हम उन्हीं की चर्चा करेंगे ।

यह एक अनुभूत प्राकृतिक तथ्य है, एक जीवन की अभिव्यक्ति और अवस्थिति दूसरे शब्दों में उसका जन्म, विकास और अस्तित्व दूसरे जीवनों के आश्रित है -- इससे हम इंकार भी नहीं कर सकते हैं । किन्तु इस सत्य को समझने की जीवन-दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं । एक दृष्टिकोण यह रहा है कि यदि एक जीवन दूसरे जीवन पर आश्रित है तो हमें यह अधिकार है कि हम जीवन के दूसरे रूपों का विनाश करके भी अपने अस्तित्व को बनाये रखें । पूर्व में 'जीवोजीवस्य भोजनम्' और पश्चिम में 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Struggle for existence) के सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण के कारण अस्तित्व में आये । इनकी जीवन-दृष्टि हिंसक रही । इन्होंने विनाश से विकास का मार्ग चुना । आज पूर्व से पश्चिम तक इसी जीवन-दृष्टि का बोल-बाला है । जीवन के दूसरे रूपों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का विनाश करके मानव के अस्तित्व को बचाने के प्रयत्न होते रहे हैं। किन्तु अब विज्ञान यह बताता है कि जीवन के दूसरे रूपों का अनवरत विनाश करके हम मानव का अस्तित्व भी नहीं बचा सकते हैं। इस सम्बन्ध में दूसरी जीवन-दृष्टि यह रही कि एक जीवन, जीवन के दूसरे रूपों के सहयोग पर आधारित है -- जैनाचार्यों ने इसी जीवन-दृष्टि का उद्घोष किया था। आज से लगभग अठारह सौ वर्ष पूर्व आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र प्रस्तुत किया -- 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[४] अर्थात् जीवन एक दूसरे के सहयोग पर आधरित है। विकास का मार्ग हिंसा या विनाश नहीं परस्पर सहकार है। एक-दूसरे के पारस्परिक सहकार या सहयोग पर जीवन-यात्रा चलती है। जीवन के दूसरे रूपों के सहकारी बनकर ही हम अपना जीवन जी सकते हैं। प्राणी-जगत् पारस्परिक सहयोग पर आश्रित है। हमें अपना जीवन जीने के लिये दूसरे प्राणियों के सहयोग की और दूसरे प्राणियों को अपना जीवन जीने के लिये हमारे सहयोग की आवश्यकता है। हमें जीवन जीने (भोजन, प्राणवायु आदि) के लिये वनस्पति जगत् की आवश्यकता है तो वनस्पति को अपना जीवन जीने के लिये जल, वायु, खाद आदि की आवश्यकता है। वनस्पति से प्राप्त आक्सीजन, फल, अन्न आदि से हमारा जीवन चलता है तो हमारे द्वारा प्राप्त कार्बनडाईआक्साईड एवं मल-मूत्र आदि से उनका जीवन चलता है। अत: जीवन जीने के लिये जीवन के दूसरे रूपों का सहयोग तो हम ले सकते हैं किन्तु उनके विनाश का हमें अधिकार नहीं है, क्योंकि उनके विनाश में हमारा भी विनाश निहित है। दूसरे की हिंसा वस्तुत: हमारी ही हिंसा है, इसलिये आचारांग में कहा गया था - जिसे तू मारना चाहता है, वह तो तू ही है -- क्योंकि यह तो तेरे अस्तित्व का आधार है[५]। सहयोग लेना और दूसरों को सहयोग करना यही प्राणी जगत् की आदर्श स्थिति है। जीवन कभी भी दूसरों के सहयोग के बिना नहीं चलता है। जिसे हम दूसरों के सन्दर्भ में अपना अधिकार मानते हैं, वहीं दूसरों के प्रति हमारा कर्त्तव्य भी है। इसे हमें नहीं भूलना है। सर्वत्र जीवन की उपस्थिति की कल्पना, उसके प्रति अहिंसक दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि जैन आचार्यों ने जीवन के विविध रूपों की हिंसा और उनके दुरूपयोग को रोकने हेतु आचार के अनेक विधि-निषेधों का प्रतिपादन किया। आगे हम जल प्रदूषण, वायुप्रदूषण, खाद्य-सामग्री के प्रदूषण से बचने के लिये जैनाचार्यों ने किन आचार नियमों का प्रतिपादन किया है, इसकी चर्चा करेंगे।

जल प्रदूषण और जल-संरक्षण

जल को प्रदूषण से मुक्त रखने के लिये एवं उसके सीमित उपयोग के लिये जैन ग्रन्थों में अनेक निर्देश उपलब्ध हैं। यद्यपि प्राचीन काल में ऐसे बड़े उद्योग नहीं थे, जिनसे बड़ी मात्रा में जल प्रदूषण हो, फिर भी जल में अल्प मात्रा में भी प्रदूषण न हो इसका ध्यान जैन परम्परा में रखा गया है। जैन परम्परा में प्राचीन काल से अवधारणा रही है कि नदी, तालाब, कुएँ आदि में प्रवेश करके स्नान, दातौन तथा मलमूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिये, क्योंकि जल में शारीरिक-मलों के उत्सर्ग के परिणामस्वरूप जो विजातीय तत्त्व जल में मिलते हैं, उनसे बहुतायत से जलीय जीवों की हिंसा होती है और जल प्रदूषित होता है। जैन परम्परा में आज भी यह लोकक्ति है कि पानी का उपयोग घी से भी अधिक सावधानी से करना चाहिये। मुझे स्वयं वे दिन याद हैं, जब घी के गिरने पर उतनी प्रताड़ना नहीं मिलती थी, जितनी एक गिलास पानी के गिर जाने पर। आज से २०-२५ वर्ष पूर्व तक जैन मुनि यह नियम या प्रतिज्ञा दिलाते थे कि नदी, कुएँ आदि में प्रवेश करके स्नान नहीं करना, स्नान में एक घड़े से अधिक जल का व्यय नहीं करना आदि। उनके ये उपदेश हमारी आज की उपभोक्ता संस्कृति को हास्यास्पद लगते हों किन्तु भविष्य में जो पीने योग्य पानी का संकट आने वाला है उसे देखते हुए, ये नियम कितने उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं, इसे कोई भी व्यक्ति सरलता से समझ सकता है। जैन परम्परा में मुनियों के लिये तो सचित्तजल (जीवन युक्त जल) के प्रयोग का ही निषेध है। जैन मुनि केवल उबला हुआ गर्म पानी या अन्य किन्हीं साधनों से जीवाणु रहित हुआ जल ही ग्रहण कर सकता है। सामान्य उपयोग के लिये वह ऐसा जल भी ले सकता है जिसका उपयोग गृहस्थ कर चुका हो और उसे बेकार मानकर फेंक रहा हो। गृहस्थ उपासक के लिये भी जल के उपयोग से पूर्व उसका छानना और सीमित मात्रा में ही उसका उपयोग करना आवश्यक माना गया है। बिना छना पानी पीना जैनों के लिए पापाचरण माना गया है। जल को छानना अपने को प्रदूषित जल ग्रहण से बचाना है और इस प्रकार वह स्वास्थ्य के संरक्षण का भी अनुपम साधन है। जल के अपव्यय का मुख्य कारण आज हमारी उपभोक्ता संस्कृति है। जल का मूल्य हमें इस लिये पता नहीं लगता है, कि प्रथम तो वह प्रकृति का नि:शुल्क उपहार है, दूसरे आज नल में टोटी खोलकर हम उसे बिना परश्रिम के पा लेते हैं। यदि कुओं से स्वयं जल निकाल कर और उसे दूरी से घर पर लाकर इसका उपयोग करना हो तो जल का मूल्य क्या है, इसका हमें पता लगे। चाहे इस युग में जीवनोपयोगी सब वस्तुओं के मूल्य बढ़े हों किन्तु जल तो सस्ता ही हुआ है। जल का अपव्यय न हो इसलिये प्रथम आवश्यकता यह है कि हम उपभोक्ता संस्कृति से विमुख हों। जहाँ पूर्व काल में जंगल में जाकर मल विसर्जन, दातौन, स्नान आदि किया जाता था, वहाँ जल का कितना कम उपयोग होता था यह किसी से छिपा नहीं है। पुन: वह मल एवं जल भी जंगल के छोटे पौधों के लिये खाद व पानी के रूप में उपयोगी होता था। आज की पाँच सितारा होटलों की संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति पहले से पचास गुना अधिक जल का उपयोग करता है। जो लोग जंगल में मल-मूत्र विसर्जन एवं नदी किनारे स्नान करते थे उनका जल का वास्तविक व्यय दो लिटर से अधिक नहीं था और उपयोग किया गया जल भी या तो पौधों के उपयोग में आता था या फिर मिट्टी और रेत से छनकर नदी में मिलता था किन्तु आज पाँच सितारा होटल में एक व्यक्ति कम से कम पाँच सौ लिटर जल का अपव्यय कर देता है। यह अपव्यय हमें कहाँ ले जायेगा, यह विचारणीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वायुप्रदूषण का प्रश्न

वायुप्रदूषण के प्रश्न पर भी जैन आचार्यों का दृष्टिकोण स्पष्ट था। यद्यपि प्राचीन काल में वे अनेक साधन जो आज वायुप्रदूषण के कारण बने हैं, नहीं थे मात्र अधिक मात्रा में धूम्र उत्पन्न करने वाले व्यवसाय ही थे। धूम्र की अधिक मात्रा न केवल फलदार पेड़-पाधों के लिये अपितु अन्य प्राणियों और मनुष्यों के लिए किस प्रकार हानिकारक है, यह बात वैज्ञानिक गवेषणाओं और अनुभवों से सिद्ध हो गयी है। जैन आचार्यों ने उपासकदशासूत्र में जैन गृहस्थों के लिये स्पष्टत: उन व्यवसायों का निषेध किया है जिनमें अधिक मात्रा में धूम्र उत्पन्न होकर वातावरण को प्रदूषित करता हो। वायुप्रदूषण का एक कारण फलों आदि को सड़ाकर उनसे शराब आदि मादक पदार्थ बनाने का व्यवसाय भी है जिसका जैन गृहस्थ के लिए निषेध है। वायुप्रदूषण को रोकने और प्रदूषित वायु, सूक्ष्म कीटाणुओं एवं रजकण से बचने के लिये जैनों में मुख वस्त्रिका बाँधने या रखने की जो परम्परा है, वह इस तथ्य का प्रमाण है कि जैन आचार्य इस सम्बन्ध में कितने सजग थे कि प्रदूषित वायु और कीटाणु शरीर में मुख एवं नासिका के माध्यम से प्रवेश न करें और हमारा दूषित श्वास वायुप्रदूषण न करें।

पर्यावरण के प्रदूषण में आज धूम्र छोड़ने वाले वाहनों का प्रयोग भी एक प्रमुख कारण है। यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति के इस युग में यह बात हास्यास्पद लगेगी कि हम पुन: बैलगाड़ी की दिशा में लौट जायें, किन्तु यदि वातावरण को प्रदूषण से मुक्त रखना है तो हमें हमारे नगरों और सड़कों को इस धूम्र प्रदूषण से मुक्त रखने का प्रयास करना होगा। जैन मुनि के लिये आज भी जो पदयात्रा करने और कोई भी वाहन प्रयोग नहीं करने का नियम है वह चाहे हास्यास्पद लगे, किन्तु पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने और मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से वह कितना उपयोगी है, इसे झुठलाया नहीं जा सकता। आज की हमारी उपभोक्ता संस्कृति में हम एक ओर एक फर्लांग भी जाना हो तो वाहन की अपेक्षा रखते हैं तो दूसरी ओर डाक्टरों के निर्देश पर प्रतिदिन पाँच-सात कि.मी. टहलते हैं। यह कैसी आत्मप्रवंचना है, एक ओर समय की बचत के नाम पर वाहनों का प्रयोग करना तो दूसरी ओर प्रात:कालीन एवं सायंकालीन भ्रमणों में अपने समय का अपव्यय करना। यदि मनुष्य मध्यम आकार के शहरों तक अपने दैनान्दिन कार्यों में वाहन का प्रयोग न करे तो उससे दोहरा लाभ हो। एक ओर ईंधन एवं तत्सम्बन्धी खर्च बचें, तो दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषण से बचें। साथ ही उसका स्वास्थ्य भी अनुकूल रहेगा। प्रकृति की ओर लौटने की बात आज चाहे परम्परावादी लगती हो किन्तु एक दिन ऐसा आयेगा जब यह मानव अस्तित्व की एक अनिवार्यता होगी। आज भी यू.एस.ए. जैसे विकसित देशों में यह प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गयी है।

वनस्पति जगत् और पर्यावरण

आचारांगसूत्र में वानस्पतिक जीवन की प्राणीय जीवन से तुलना करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार हम जीवन युक्त हैं और अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दु:खादि विविध संवेदनाओं की अनुभूति करते हैं, उसी प्रकार से वनस्पति जगत् आदि को भी अनुभूति होती है[६]। किन्तु जिस प्रकार एक अंधा, पंगु, मूक एवं बधिर व्यक्ति पीड़ा का अनुभव करते हुए भी उसे अभिव्यक्त नहीं कर पाता है, उसी प्रकार वनस्पति आदि अन्य जीव-निकाय भी पीड़ा का अनुभव तो करते हैं किन्तु उसे व्यक्त करने में समर्थ नहीं होते। अत: व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि वह उनकी हिंसा एवं उनके अनावश्यक दुरूपयोग से बचे। जिस प्रकार हमें अपना जीवन-जीने का अधिकार है उसी प्रकार उन्हें भी अपना जीवन-जीने का अधिकार है। अत: जीवन जहाँ कहीं भी और जिस किसी भी रूप में हो उनका सम्मान करना हमारा कर्त्तव्य है। प्रकृति की दृष्टि में एक पौधे का जीवन भी उतना ही मूल्यवान है जितना एक मनुष्य का। पेड़-पौधे पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त करने में जितने सहायक हैं, उतना मनुष्य नहीं है, वह तो पर्यावरण को प्रदूषित ही करता है। वृक्षों एवं वनों के संरक्षण तथा वनस्पति के दुरूपयोग से बचने के सम्बन्ध में भी प्राचनी जैन साहित्य में अनेक निर्देश हैं। जैन परम्परा में मुनि के लिए तो हरित-वनस्पति को तोड़ने व काटने की बात तो दूर उसे स्पर्श करने का भी निषेध था। गृहस्थ उपासक के लिये भी हरित वनस्पति के उपयोग को यथाशक्ति सीमित करने का निर्देश है। आज भी पर्व-तिथियों में हरित-वनस्पति नहीं खाने के नियम का पालन अनेक जैन गृहस्थ करते हैं। कंद और मूल का भक्षण जैन-गृहस्थ के लिए निषिद्ध ही है। इसके पीछे यह तथ्य रहा कि यदि मनुष्य जड़ों का ही भक्षण करेगा तो पौधों का अस्तित्व ही खतरे में हो जायेगा और उनका जीवन समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार से उस पेड़ को जिसका तना मनुष्य की बाँहों में न आ सकता हो, काटना मनुष्य की हत्या के बराबर दोष माना गया है। गृहस्थ उपासक के लिए जिन पन्द्रह निषिद्ध व्यवसायों का उल्लेख है उसमें वनों को काटना भी निषिद्ध है[७]। आचारांग में वनस्पति के शरीर की मानव शरीर से तुलना करके यही बतलाया गया है कि वनस्पति की हिंसा भी प्राणी हिंसा के समान है। इसी प्रकार वनों में आग लगाना, वनों को काटना आदि को गृहस्थ के लिए सबसे बड़ा पाप (महारम्भ) माना गया है क्योंकि उसमें न केवल वनस्पति की हिंसा होती है, अपितु अन्य वन्य जीवों की भी हिंसा होती है और पर्यावरण प्रदूषित होता है। क्योंकि वन वर्षा और पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखने के अनुपम साधन हैं।

कीटनाशकों का प्रयोग

आज खेती में जो रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशक दवाओं का उपयोग बढ़ता जा रहा है वह भी हमारे भोजन में होने वाले प्रदूषण का कारण है। जैन परम्परा में गृहस्थ-उपासक के लिए खेती की अनुमति तो है, किन्तु किसी भी स्थिति में कीटनाशक दवाओं का उपयोग करने की अनुमति नहीं है क्योंकि उससे छोटे-छोटे जीवों की उद्देश्य पूर्ण हिंसा होती है जो उसके लिए निषिद्ध है। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए निषिद्ध पन्द्रह व्यवसायों में विशैले पदार्थ का व्यवसाय भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्जित है[८]। अतः वह न तो कीटनाशक दवाओं का प्रयोग कर सकता है और न ही उनका क्रय-विक्रय कर सकता है। महाराष्ट्र के एक जैन किसान ने प्राकृतिक पत्तों, गोबर आदि की खाद से तथा कीटनाशकों के उपयोग के बिना ही अपने खेतों में रिकार्ड उत्पादन करके सिद्ध कर दिया है कि रासायनिक उर्वरकों के उपयोग न तो आवश्यक हैं और न ही वाँछनीय, क्योंकि इससे न केवल पर्यावरण का संतुलन भंग होता है और वह प्रदूषित होता है, अपितु हमारे खाद्यान्न भी विषयुक्त बनते हैं जो हमारे स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होते हैं।

रात्रिभोजन निषेध और प्रदूषणमुक्तता

इसी प्रकार जैन परम्परा में जो रात्रिभोजन निषेध की मान्यता है[९], वह भी प्रदूषण मुक्तता की दृष्टि से एक वैज्ञानिक मान्यता है जिससे प्रदूषित आहार शरीर में नहीं पहुंचता और स्वास्थ्य की रक्षा होती है। सूर्य के प्रकाश में जो भोजन पकाया और खाया जाता है वह जितना प्रदूषण मुक्त एवं स्वास्थ्य-वर्द्धक होता है, उतना रात्रि के अंधकार या कृत्रिम प्रकाश में पकाया गया भोजन नहीं होता है। यह तथ्य मनोकल्पना नहीं है, बल्कि एक वैज्ञानिक सत्य है। जैनों ने रात्रिभोजन-निषेध के माध्यम से पर्यावरण और मानवीय स्वास्थ्य दोनों के संरक्षण का प्रयत्न किया है। दिन में भोजन पकाना और खाना उसे प्रदूषण से मुक्त रखना है क्योंकि रात्रि में एवं कृत्रिम प्रकाश में भोजन में विषाक्त सूक्ष्म प्राणियों के गिरने की सम्भावना प्रबल होती है, पुनः देर रात में किये गये भोजन का परिपाक भी सम्यक् रूपेण नहीं होता है।

शिकार और मांसाहार

आज जो पर्यावरण का संकट बढ़ता जा रहा है उसमें वन्य जीवों और जलीय-जीवों का शिकार भी एक कारण है। आज जलीय जीवों की हिंसा के कारण जल में प्रदूषण बढ़ता है। यह तथ्य सुस्पष्ट है कि मछलियाँ आदि जलीय-जीवों का शिकार जल-प्रदूषण का कारण बनता जा रहा है। इसी प्रकार कीट-पंतग एवं वन्य-जीव भी पर्यावरण के सन्तुलन का बहुत बड़ा आधार हैं। आज एक ओर वनों के कट जाने से उनके संरक्षण के क्षेत्र समाप्त होते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर फर, चमड़े, मांस आदि के लिए वन्य-जीवों का शिकार बढ़ता जा रहा है। जैन परम्परा में कोई व्यक्ति तभी प्रवेश पा सकता है जबकि वह शिकार व माँसाहार नहीं करने का व्रत लेता है। शिकार व माँसाहार नहीं करना जैन गृहस्थ धर्म में प्रवेश की प्रथम शर्त है। मत्स्य, माँस, अण्डे एवं शहद का निषेध कर जैन आचार्यों ने जीवों के संरक्षण के लिए भी प्राचीन काल से ही महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किये हैं।

रासायनिक शस्त्रों का प्रयोग

आज विश्व में आणविक एवं रासायनिक शस्त्रों में वृद्धि हो रही है और उनके परीक्षणों तथा युद्ध में उनके प्रयोगों के माध्यम से भी पर्यावरण में असंतुलन उत्पन्न होता है तथा वह प्रदूषित होता है। इनका प्रयोग न केवल मानवजाति के लिए अपितु समस्त प्राणि-जाति के अस्तित्व के लिए खतरा है। आज शस्त्रों की इस अंधी दौड़ में हम न केवल मानवता की, अपितु इस पृथ्वी पर प्राणी-जगत् की अन्त्येष्ठि हेतु चिता तैयार कर रहे है। भगवान महावीर ने इस सत्य को पहले ही समझ लिया था कि यह दौड़ मानवता की सर्व विनाशक होगी। आचारांग में उन्होंने कहा-- **'अत्थि सत्थं परेणपरं-नत्थि असत्थं परेणपरं'**[१०] अर्थात् शस्त्रों में एक से बढ़कर एक हो सकते हैं, किन्तु अशस्त्र (अहिंसा) से बढ़कर कुछ नहीं है। निःशस्त्रीकरण का यह आदेश आज कितना सार्थक है यह बतलाना आवश्यक नहीं है। यदि हमें मानवता के अस्तित्व की चिन्ता है तो पर्यावरण के सन्तुलन का ध्यान रखना होगा एवं आणविक तथा रासायनिक शस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाना होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्म में पर्यावरण के संरक्षण के लिए पर्याप्त रूप से निर्देश उपलब्ध हैं। उसकी दृष्टि में प्राकृतिक साधनों का असीम दोहन जिनमें बड़ी मात्रा में भू-खनन, जल-अवशोषण, वायुप्रदूषण, वनों के काटने आदि के कार्य होते हैं, वे महारम्भ की कोटि में आते हैं जिसको जैनधर्म में नरक-गति का कारण बताया गया है। जैनधर्म का संदेश है प्रकृति एवं प्राणियों का विनाश करके नहीं, अपितु उनका सहयोगी बनकर जीवन-जीना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। प्रकृति विजय के नाम पर हमने जो प्रकृति के साथ अन्याय किया है, उसका दण्ड हमारी सन्तानों को न भुगतना पड़े इसलिए आवश्यक है कि हम न केवल वन्य प्राणियों, पेड़-पौधों, अपितु जल, प्राणवायु, जीवन-ऊर्जा (अग्नि) और जीवन-अधिष्ठान (पृथ्वी) के साथ भी सहयोगी बनकर जीवन जीना सीखें, उनके संहारक बनकर नहीं, क्योंकि उनका संहार प्रकारान्तर से अपना ही संहार है।

जैन आचार्यों की पर्यावरण के प्रति विशेष रूप से वनस्पति जगत के प्रति कितनी सजगता रही है, इसका पता इस तथ्य से चलता है कि उन्होंने अपने प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक चैत्य-वृक्ष को जोड़ दिया और इस प्रकार वे चैत्य-वृक्ष भी जैनों के लिए प्रतीक रूप पूज्य बन गये। समवायांगसूत्र के अनुसार तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों की सूची इस प्रकार है[११]--

१. ऋषभ -- न्यग्रोध (वट)	१४. अनन्त -- अश्वत्थ (पीपल)
२. अजित -- सप्तपर्ण	१५. धर्म -- दधिपर्ण
३. संभव -- शाल	१६. शान्ति -- नन्दीवृक्ष
४. अभिनन्दन -- प्रियाल	१७. कुन्थु -- तिलक
५. सुमति -- प्रियंगु	१८. अर -- आम्रवृक्ष
६. पद्मप्रभ -- छत्राह	१९. मल्ली -- अशोक
७. सुपार्श्व -- शिरीष	२०. मुनिसुव्रत -- चम्पक
८. चन्द्रप्रभ -- नागवृक्ष	२१ नमि -- बकुल
९. पुष्पदन्त -- साली	२२. नेमि -- वेत्रसवृक्ष
१०. शीतल -- पिलंखुवृक्ष	२३. पार्श्व -- धातकीवृक्ष
११. श्रेयान्स -- तिन्दुक	२४. महावीर (वर्धमान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२. वासुपूज्य -- पाटल शालवृक्ष
१३. विमल-- जम्बु

इस प्रकार हम यह भी देखते हैं कि जैन परम्परा के अनुसार प्रत्येक तीर्थंकर ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अशोक वृक्ष की छाया में बैठकर ही अपना उपदेश देते हैं इससे भी उनकी प्रकृति और पर्यावरण के प्रति सजगता प्रगट होती है। प्राचीनकाल में जैन मुनियों को वनों में ही रहने का निर्देश था, फलत: वे प्रकृति के अति निकट होते थे। कालान्तर में जब कुछ जैन मुनि चैत्यों या बस्तियों में रहने लगे तो उनके दो विभाग हो गये --

१. चैत्यवासी २. वनवासी

किन्तु इसमें भी चैत्यवासी की अपेक्षा वनवासी मुनि ही अधिक आदरणीय बने। जैन परम्परा में वनवास को सदैव ही आदर की दृष्टि से देखा गया।

इसी प्रकार हम यह भी देखते हैं कि जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं को एक-दूसरे से पृथक् करने के लिए जिन प्रतीक चिह्नों (लांछनों) का प्रयोग किया गया है उनमें भी वन्य जीवों या जल-जीवों को ही प्राथमिकता मिली है। यथा --

तीर्थंकर -- लांछन	विमल -- वराह
ऋषभ -- बैल	अनन्त -- श्येनपक्षी
अजित -- गज	अनन्त -- रीछ
सम्भव -- अश्व	शान्तिनाथ -- मृग
अभिनन्दन -- कपि	कुंथु -- छाग
सुमतिनाथ -- क्रौंच	सुव्रत -- कूर्म
पुष्पदंत -- मकर	पार्श्वनाथ -- सर्प
वासुपूज्य -- महिष	महावीर -- सिंह

इन सभी तथ्यों से यह फलित होता है कि जैन आचार्य प्रकृति और पर्यावरण के प्रति सजग रहे हैं तथा उनके द्वारा प्रतिपादित आचार सम्बन्धी विधिनिषेध पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त रखने में पर्याप्त रूप से सहायक हैं।

सन्दर्भ

१. तं परिण्णाय मेहावी णेव संय छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभते समणुजाणेज्जा।
-आयारो, आचार्य तुलसी, १/१७६
२. से बेमि -- संति पाणा उदय-निस्सिया जीवा अणेगा।
-आयारो, आचार्य तुलसी, १/५४
३. देखिये -- आयारो, द्वितीय उद्देशक से सप्तम उद्देशक तक
४. परस्परोपग्रहो जीवानाम्, तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, ५/२१

५. तुमंसि नाम सच्चेम जं 'हंतत्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेम जं 'अज्जावेयतव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेम जं 'परितावेयव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेम जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेम जं 'उद्दवेयव्वं' ति मन्नसि।
-आयारो, ५/१०

६. वणस्सइजीवाणं माणुस्सेण तुलणा पदं से बेमि --
इंमपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं।
इंमपि बुड्ढिधम्मयं, एयंपि बुड्ढिधम्मयं।
इंमपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं।
इंमपि छिन्नं मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति।
इंमपि आहारगं एयंपि आहारगं।
इंमपि अणिच्चयं, एयंपि अणिच्चयं।
इंमपि असासयं, एयंपि असासयं।
इंमपि चयावचइयं, एयंपि चयावचइयं।
इंमपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं।
-आयारो, सं. आचार्य तुलसी, १/३२

७. तं जहा -- इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे, लक्खावाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, जंतपीलंणकम्मे, निल्लेछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलायसोसणया, असईजणपोसणया।
-उपासकदशासूत्र, सं. मधुकर मुनि, १/५
८. वही, १/५
९. से वारिया इत्थि सरायभत्तं।
-सूत्रकृतांगसूत्र, मधुकरमुनि, १/६/३७९
१०. समवायांगसूत्र, मधुकरमुनि, परिशिष्ट ६४६

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org